REVIEW OF RESEARCH
ISSN: 2249-894X
IMPACT FACTOR : 5.7631(UIF)
VOLUME - 15 | ISSUE - 6 | MARCH - 2026

प्रसाद के नाटकों के स्वरूप का सामाजिक अध्ययन

चन्द्र कान्त शुक्ल
हिन्दी विभाग
अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

सारांश –

यह सर्वकालिक सत्य है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। प्रसाद जी साहित्य सर्जना में जिस काल विशेष में प्रवृत हुए वह काल भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का चरमोत्कर्ष काल था। देश की बहुसंख्यक जनता किसी न किसी रूप में भारत को स्वतंत्र कराना चाहती थी, चतुर्दिक देशभक्ति के उदाहरण सामने आ रहे थे, ऐसे वातावरण में भला कोई साहित्यकार इस महासंग्राम में अपने योगदान से कैसे पीछे रह सकता है। प्रसाद जी का प्रत्येक नाटक उद्देश्य प्रधान होता है वे हर नाटक के माध्यम से कुछ न कुछ कहना चाहते हैं जहाँ तक उनके नाटकों में सांस्कृतिक चित्रण की बात रहती है वहीं दूसरी तरफ सामाजिक पुनरुत्थान की भावना भी परिलक्षित होती है। साहित्य मानवीय सृष्टि है, वह उद्देश्य रहित मानवता के प्रति उत्तरदायी होती है। प्रसाद जी ने प्राचीन भारतीय इतिहास को आधार मानकर नाट्य साहित्य की सृष्टि की है। उनके समक्ष एक निश्चित लक्ष्य एवं दृष्टिकोण था जिसका उल्लेख उन्होंने विशाख नाटक के प्राक्कथन में किया है – "मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंशों से उन घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है। इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति के लिए अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है, क्योंकि हमारी गिरी दशा उठाने के लिए हमारी जलवायु के अनुरुप, जो हमारी अतीत सभ्यता है उससे बढ़कर कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा या नहीं इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है।"[1]

मुख्य शब्द – प्रसाद, नाटक, स्वरूप, सामाजिक अध्ययन।

प्रस्तावना –

प्रसाद जी भारतीय आर्य संस्कृति की आत्मा के प्रतीक हैं और उनकी समस्त कृतियाँ समाज की आत्मा के प्रोद्भाषित मुखरित स्वर है। प्रसाद जी ने अपने गहन और विस्तृत अध्ययन के क्रम में समाज की विभिन्न संस्कृतियों का अध्ययन, अवलोकन और अवगाहन किया, लेकिन उनके अन्तस्थल में अपनी सामाजिक संस्कृति की विराक्तता के प्रति जो आस्था, स्नेह, भावनात्मक सम्बन्ध था उसने सामाजिक संस्कृति के महत्व के चित्रण और विश्लेषण करने को विवश किया। भारतीय सामाजिक संस्कृति उन्मुक्त व्योम में उद्भाषित वह निश्छल तेज है, जो मात्र कोलाहल की अवनी से मुक्ति नहीं दिलाता, बल्कि उन्मुक्त भाव से प्रेम–कथा कहता है, क्षितिज के पार से आने वाले भूले–भटके आक्रामकों, आततायियों को स्नेह, सद्भाव, सहानुभूति और नैतिकता का

दिशा–निर्देश करता है। भारतीय समाज की संस्कृति के स्वरूप का सम्यक विश्लेषण और दर्शन प्रसाद के नाटकों में भरा पड़ा है। समाज में संस्कृति का विस्तृत रूप है इसलिए प्रसाद जी ने भारतीय जीवन के विभिन्न संस्कारों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। संस्कार वंशगत, धर्मगत, जातिगत और परिवेशगत भी होते हैं। इनके अतिरिक्त परिस्थितिजन्य परिवेश की मान्यता की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। क्षत्रियत्व और दानशीलता आदि क्षत्रियों के जन्मजात, सांस्कारिक गुण है, तो ज्ञानशीलता, उदारता और त्यागमयता भी ब्राह्मणों के साथ जन्म से ही प्रकट होते हैं। प्रसाद के पात्र नियति और धर्म में आस्था रखते हैं। हम समाज में सभ्यता की होड़ में चाहे जितने आगे निकल जाएं, रंगीन, बन जाएं किन्तु इसे कदापि नहीं भूल सकते कि हम उसी विराट की लघु प्रतिच्छाया है। यह बात तर्क से सर्वथा परे है कि वह (ईश्वर) भविष्य में मंगलमय आशा का सुखद परिणाम देने वाला है।[2] नियति के नियम परिवर्तन और प्रकोप के प्रति आस्थावान प्रसाद अपने नाटक में भारतीय समाज की संस्कृति के उस अध्याय को खोलते हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि – नियति परिवर्तन द्वारा सृष्टि का श्रृंगार किया करती है। कभी शील का बोझ एक पैर भी महल से बाहर चलने में रोकता है और कभी निर्लज्ज गणिका का उच्छृंखल आमोद मनोनीत होता है।[3] संस्कृति की रेखायें सामाजिक परिस्थितियों को प्रभावित करती हैं और सामाजिक व्यवस्था का निर्धारण भी, प्रसाद के नाटकों में यह तथ्य सहज ही प्रमाणित हो जाता है।

भारतीय समाज में अतिशय विश्वास का ही परिणाम था कि मंत्र उच्चारण द्वारा मिट्टी को सोना बनाने जैसे प्रलोभन में हम फंसते रहे। राष्ट्र और समाज की सुव्यवस्था, सुशासन, दृढ़ता और मांगलिकता के लिए सत्कर्मों, पूजा–हवनादि, यज्ञ, तप, अनुष्ठान के विधान आर्य संस्कृति के रेखांकित कर्म हैं। समाज में यह आस्था बराबर प्रबल रही है कि यज्ञ से सारे अच्छे–बुरे कर्मों का प्रतिकार, ग्रहों कुदृष्टियों का उपचार हो जाता है। आर्य संस्कृति में ही नहीं बल्कि अनेक संस्कृतियों में प्रमाणित है कि सत्कर्मों से अमंगल और अभिशाप से मुक्ति मिलती है। प्रसाद जी के अधिकांश नाटकों में भारत के प्राचीन और संस्कृति के उद्‌गीत सुनाते हैं, तथापि उनके विकास और ह्रास के इतिहास भी उनमें सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। परिस्थिति, परिवेश, प्रभाव और अन्य संस्कृति के प्रदूषण के कारण कोई भी संस्कृति अपने मूलरूप से विकृत होने लगती है। हिन्दू समाज में प्रचलित वर्ण–व्यवस्था सनातन धर्म की आदियुगीन प्रवृत्ति है, फिर भी भारतीय इतिहास के मौर्यकाल में यह व्यवस्था मूल रूप से भिन्न रूप में मिलती है। गुप्तकाल से पूर्व, जैन और बौद्ध धर्मों से प्रभावित युग में ब्राह्मण–संस्कृति का काफी ह्रास हुआ। तब उसी धर्म और संस्कृति के मानने वालों ने परम्परागत रुढ़वादिता, धर्मान्धता, कट्टरता के विरुद्ध मुक्ति की आकांक्षा से विद्रोह किया था, जिससे गुप्तकाल में पुनः ब्राह्मण संस्कृति अपने विकास के चरमोत्कर्ष पर प्रतिष्ठित हो गई थी। अजातशत्रु में जिस ब्राह्मण–संस्कृति की पकड़ ढीली पड़ गई थी, वहीं चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन–काल में सार्वभौम ब्राह्मणत्व के रूप में समाज के उच्च शिखर पर आसीन हो गया था।

युद्ध के समय सामाजिक समन्वय और सांस्कृतिक विशिष्टता–सदाशयता के स्पष्ट दर्शन होते हैं। चन्द्रगुप्त से हर्षवर्धन काल तक के समाज में वर्ण–व्यवस्था प्रायः एक सी मिलती है लेकिन यह सत्य है कि ब्राह्मण–संस्कृति को जो ऊँचाई चन्द्रगुप्त मौर्य काल में मिली, वह न कभी पहले मिली थी और न कभी बाद में ही। तात्कालीन ब्राह्मण संस्कृति थी शास्त्र–प्रणयन और राज्य–व्यवस्थापन।[4] तपोनिष्ठता ब्राह्मण के प्रधान चारित्रिक गुण थे, जो यम, नियम, कर्म, क्षमा, निष्पृहता समेटे हुआ था। तात्कालीन समाज में ब्राह्मण संस्कृति आज से भी भिन्न थी, जिसमें उसका निवास झोपड़ी, जीविका मृत–अमृत, भोजन फल–फूल थे और शीतल जल उसके लिए अपेक्षित और उपादेय थे। वह नश्वर चमकीले भौतिक प्रदर्शन से अभिभूत नहीं होता था, बल्कि अपने तेज से निर्भिकता को समेटे हुए भूमा का सुख और उसकी महत्ता में ही प्रसन्न रहता था। उसकी आस्था, विद्या और विनम्रता से अधिक विमुक्ति में विश्वास रखती है, यही उसका आचार्यत्व था। पंडित चाणक्य में अर्थशास्त्र, रणनीति, कूटनीति तथा दण्डनीति के साथ प्रेम, दर्शन, मोक्ष समायोजन जैसे गुण विद्यमान थे, इसके प्रबल प्रमाण है।

विश्लेषण –

विभिन्न संस्कृति और समाज ने जीवन की सम्पूर्ण अवधि को चार आश्रमों में विभाजित किया है। ये आश्रम उम्र यानी वय विशेष में किये जाने वाले विशेष कर्मों के आधार पर सुनिश्चित होते थे। प्रसाद जी के

नाटकों में तत्कालीन समाज–व्यवस्था के वर्णन क्रम में इसके उल्लेख और संकेत प्राप्त होते हैं नाटकों में प्रसाद जी ने चारों आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास पर बड़े ही बुद्धिमत्तापूर्ण प्रकाश डाला है। प्रसाद जी के नाटकों का सामाजिक दृष्टि से अध्ययन करने पर पुरुषार्थ चतुष्टय का भी तत्कालीन समाज पर व्यापक प्रभाव स्पष्ट होता है। सारे नाटकों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की स्थिति से समाज में सत्य, धर्म, अहिंसा के प्राकट्य का ज्ञान परिलक्षित होता है।

समाज में अनेक संस्कारों का विधान विद्वानों द्वारा मान्य है। आर्य संस्कृति में जन्म से लेकर मृत्यु तक विभिन्न संस्कार – मुण्डन, यज्ञोपवीत, शिक्षारम्भ, विवाह, राज्याभिषेक इत्यादि हमारे जीवन से संम्पृक्त है। अन्य संस्कारों के अतिरिक्त प्रसाद के नाटकों में विवाह और प्रणय के वर्णन में अनेक चित्र मिलते हैं। प्रसाद जी ने जो स्वतंत्रता अपने पात्रों को दे रखी है, वह प्राचीन संस्कृति, भारतीय समाज में दुर्लभ है। इनके नारी पात्र प्रणय के क्षेत्र में आत्मा की आँखों से देखती है, बाहर की आँखों से नहीं। प्रसाद के नाटक इस बात से स्पष्ट और स्वस्थ संकेत देते हैं कि तात्कालीन समाज में विवाह के पूर्व उन्मुक्त प्रेम–सम्बन्ध की स्वतंत्रता तो थी ही, जाति, वंश, गोत्र, देश–काल की सीमाएं भी बहुत क्षीण या नगण्य थी। चाहे दासी हो या मालिन, राजमंत्री की पुत्री हो या राजकुमारी स्वेच्छा से उन्हें प्रेमाश्रय खोजने में समाज बाधक नहीं होता था। हर पूर्व प्रणय के परिणाम, परिणाम नहीं होते थे। कभी तो ये प्रणय सम्बन्ध कली रूप में ही कुम्हला जाते थे, कभी पुष्पित होते और कभी अपनी सुरभि और फल विकीर्ण करते थें, प्रसाद जी के नाटकों में प्रणय के सुनिश्चत आधार और स्वरूप नहीं मिलते। कभी तो प्रथम दर्शन में ही उनके स्त्री–पुरुषों पात्रों के प्रणय प्रगाढ़ हो जाते थे तथा कभी बाल्यावस्था की स्मृतियाँ प्रस्फुटित होकर प्रगाढ़ प्रणय का रूप ले लेती थी। विवाह के सम्बन्ध में प्रसाद जी की कुछ निजी धारणाएं अत्यन्त सशक्त और स्पृहणीय है। वस्तुतः स्त्री और पुरुष का परस्पर विश्वास पूर्वक अधिकार रक्षा और सहयोग ही विवाह कहा जाता है। यदि ऐसा न हो तो धर्म और विवाह खेल है।[5] अपने काव्य एवं नाटकों में विवाह को प्रसाद जी ने मानव जीवन की अनिवार्यता स्वीकारते हैं, जिसके बिना गृहस्थी अपूर्ण है।

विवाह एक सामाजिक बंधन भी है। ध्रुवस्वामिनी अपने जीवन के कटु जीवन के आधार पर यह व्यक्त करती है कि विवाह के समय स्त्री–पुरुष को आजीवन भरण–पोषण, सुख–दुःख में एक होने का संकल्प करता है। जहाँ ऐसा नहीं होता, वह धर्म–विवाह नहीं कहा जा सकता। पत्नी के लिए 'धर्म पत्नी' और 'सहधर्मचर्या' जैसे अनेक शब्द उसके गुण–धर्म के आधार पर विभूषित किए गये हैं। आर्य संस्कृति और शास्त्रों में अनेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि – विवाह सृष्टि के विस्तार, परम्परा–निर्वाह और वंश–वृद्धि हेतु नियोजित है। प्रसाद के नाटकों में कई प्रकार के प्रेम के साथ–साथ कई प्रकार के विवाह भी वर्णित हैं। नाटकों में प्रसाद जी ने देव–विवाह, ब्रह्म–विवाह, गंधर्व–विवाह, आर्य–विवाह, प्रजापात्य–विवाह तथा राक्षस, पिशाच और असुर–विवाह का भी सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। लेकिन प्रसाद जी ने सामाजिक दृष्टि से आर्य संस्कृति के अनुसार यह भी माना है कि जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है, वहाँ देवताओं का निवास है। वे कामायनी में व्यक्त करते हैं कि – नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत प्रसाद जी के नाटकों में विवाह के बाद समाज में अन्य स्थिति का और पता चलता है, वह है एक व्यक्ति के अनेक विवाह की। प्रसाद के अधिकांश नाटकों में इसके स्पष्ट संकेत देखे जा सकते हैं। उस समय विशेषतः क्षत्रियों में (मुख्य रूप से राजाओं में) अनेक पत्नियों से विवाह का पता चलता है। वस्तुतः राजा राज्य–विजय के बाद भी विजयोपहार में मिली कन्या को पत्नी बनाता था तो कभी राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने, सुधारने और कभी सौन्दर्य लोलुपता के कारण तो कभी विलास–भावना से उत्प्रेरित होकर ऐसा करते थे। तत्कालीन समाज में राजाओं ने तो राज्य–विस्तार और बहु–विवाह को अपना रखा था। इसके संकेत तो राज्यश्री में स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। तत्कालीन समाज में ब्राह्मणों को एक पत्नी व्रत को विशेष महत्ता और प्रशस्ति दी गई है जो कि शास्त्रों और पुराणों द्वारा भी प्रमाणित है।

प्रसाद के नाटकों में भी ब्राह्मणों का केवल ऐक ही विवाह दिखाया गया है, दूसरा कही भी नहीं। आचार्य चाणक्य ब्राह्मण के रूप में प्रसाद जी का आदर्श और सर्वोपरि प्रतिनिधि है। ग्रीक भारतीय और सभी इतिहासकारों ने उसे कठोर व्रत पालक और आजन्म ब्रम्हचर्य व्रतधारी माना है। तत्कालीन समाज में दहेज प्रथा का भी प्रचलन था, प्रसाद के नाटकों में दहेज के ये संकेत पूर्णतः कौटिल्य के अर्थशास्त्र की सीमा–रेखा में है। 'चन्द्रगुप्त' की भूमिका में 'चन्द्रगुप्त के समय का भारत' उपशीर्षक में प्रसाद जी ने प्लिनी के कथन के सन्दर्भ

को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि – भारतवासियों का व्यवहार बहुत सरलता, यज्ञ के अलावा कभी वे मदिरापान नहीं करते थे।[6] तत्कालीन समाज में, कृषि प्रधान देश में दहेज स्वरूप बैल देने का आदर्श भी वरेण्य और अद्‌भुत था। प्रसाद के नाटकों में विवाह के सन्दर्भ में विवाह और पुनर्विवाह का उल्लेख भी तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप ही मिलता है। वस्तुतः बेमेल और अनिच्छा से हुए विवाह जब कष्टप्रद बन जाते हैं, तब पीड़ित या दुःखी के मोक्ष का प्रश्न उठ खड़ा होता है। ध्रुवस्वामिनी के सामने ऐसी ही समस्या है। ध्रुवस्वामिनी, वाग्‌दत्ता चन्द्रगुप्त की थी, हृदय से प्रेम उसी से किया, किन्तु उसका विवाह क्लीव, कायर, धर्मभ्रष्ट रामगुप्त से हो गया। इस विवाह मोक्ष का ही रुपान्तरण आज की समाज और संस्कृति में व्याप्त तलाक है। प्रसाद के नाटक में वर्णित इस क्रान्तिकारी और आदर्श समाधान को शास्त्र और स्मृति के पर्याप्त समर्थन प्राप्त हैं। पाराशर, कौटिल्य, नारद आदि के उद्धरण और विचार के आधार पर प्रसाद जी ने नयी व्याख्या प्रस्तुत की है कि मृत, प्रब्रजित हीं नहीं, नष्ट–गौरव, पतित आचरण, क्लीव और कर्मच्युत पति से मोक्ष का अधिकार पत्नी को है। आज की विधि–व्यवस्था के अनुसार विवाह–मोक्ष (तलाक) के लिए दोनों पक्षों में परस्पर द्वेष का होना अनिवार्य है। कौटिल्य ने भी यह स्वीकार किया है कि तत्कालीन उच्चवर्गीय समाज– ब्रह्म, आर्य, देव, प्राजापत्य से विवाह होते थे। लेकिन साधारण द्वेष के कारण विवाह–मोक्ष का विधान नहीं है।[7] प्रसाद जी ने ध्रुवस्वामिनी को अक्षत योनि सिद्ध करते हुए उसका पुनर्विवाह कराया है। प्रसाद के नाटक का पुनर्विवाह सन्दर्भ यह स्पष्ट करता है कि तत्कालीन संस्कृति ने समाज को ऐसी व्यवस्था और निर्देश दिया है।

तत्कालीन समाज में विवाह के बाद पति की मृत्यु होने पर स्त्रियों का सती होना भी प्रचलित था। संस्कृति के अनुसार पति के बिना अपना जीवन, अपनी प्रतिष्ठा निरापद नहीं समझकर रानियाँ पति के दाहसंस्कार के साथ अग्नि समाधि ले लेती थीं। प्रसाद के नाटकों में भी इस प्रथा के उल्लेख मिलते हैं। ध्रुवस्वामिनी नाटक में कोमा, ध्रुवदेवी से शकराज के शव की याचना करती हैं। संभवतः वह भावुक शक–बालिका अपनी व्यथा और असफल प्रेम की पीड़ा से मुक्ति पाने के एवं शाश्वत शान्ति के लिए सती होना चाहती थी।[8] राज्यश्री नाटक में राज्यश्री के सती होने का निश्चय भी इसके संकेत प्रस्तुत करते हैं।[9] प्रसाद जी ने यह धारणा व्यक्त की है कि चिता की ज्वाला में समर्पित हो जाना स्त्रियों का पवित्र कर्तव्य है, जिससे वे क्षण भंगुर संसार से अपने आदर्श निर्वाह कर ससम्मान विदा हो सके। अजातशत्रु में वासवदत्ता उदयन से कहती है – आर्य पुत्र यह सती का तेज है, सत्य का शासन है, हृदय हीन मद्यप का प्रलाप नहीं। यहाँ सती उस नारी की द्योतिका है, जिसमें अखण्डसत्य की अनुगामिनी और पोषिका हो, जल भरने वाली नहीं। प्रसाद के नाटक में इस प्रथा के उल्लेख के साथ 'सती' शब्द का प्रयोग एक अत्यन्त साहित्यिक और आदर्श के सन्दर्भ में भी हुआ है।

प्राचीन काल के समाज संगठन में स्त्रियों का महत्वपूर्ण स्थान था। उस समय समाज में स्त्रियों का सम्मान पुरुषों के बराबर ही होता था। राजदरबार में राजा के साथ रानियाँ भी राजसिंहासन पर सम्मानपूर्वक बैठती थीं। जीवन की सभी स्थितियों में उनका योग रहता था। जहाँ एक तरफ पुरुष युद्ध करने में संलग्न रहते थे, वहीं संकट काल में भी स्त्रियाँ सहायता करती थीं। कही–कहीं युद्ध काल में तो पुरुषों के वेश में स्त्रियों ने शत्रुओं को धूल चखा दिया। कल्याणी, मणिमाला और ध्रुवस्वामिनी को प्रसाद जी ने नाटक में इसी प्रकार प्रस्तुत किया है। उत्सव में स्त्रियाँ पुरुषों के साथ ही रहती थीं। नारियों के शील की रक्षा और लज्जा निर्वाह के उद्‌देश्य से उनको पर पुरुष–दर्शन तथा सामान्य जन–समुदाय के समक्ष आना वर्जित था। यह स्थिति भारत युद्धोत्तर–काल से लेकर हर्षवर्धन काल तक एक थी। तत्कालीन समाज में स्त्रियों का स्थान उच्च था। वपुष्टमा, छलना, कल्याणी, अलका, ध्रुवस्वामिनी, अनन्तदेवी, जयमाला और राज्यश्री आदि महिलाएं उस काल का आदर्श आज भी सामने प्रस्तुत करती है। संस्कृति में निर्दिष्ट गुणों के आधिक्य के कारण ही स्त्रियों के राज्य की सीमा विस्तृत है, पुरुषों की तरह संकीर्ण नहीं। पुरुष विश्व पर अधिकार करता है लेकिन स्त्री पुरुष पर ऐसा इसीलिए कि पुरुष क्रूर है, कठोरता एवं निष्ठुरता का प्रमाण है तथा उसके विपरीत स्त्री करुणा है, अबला है तथा कोमलता का विश्लेषण है।

तत्कालीन समाज में शिक्षा–दीक्षा और अध्ययन का अच्छा प्रबन्ध था। उस समय गुरुकुल व्यवस्था थी तथा स्थानीय संस्थाओं में ब्राह्मण गुरुओं के द्वारा शिक्षा प्रदान की जाती थी। तक्षशिला का विश्वविद्यालय उस समय स्नातकों की शिक्षा के लिए प्रसिद्ध केन्द्र बिन्दु था, जिसमें विद्यार्थी कम से कम पांच वर्ष तक रहकर

गुरुजनों से शिक्षा ग्रहण करते थे। उस समय कुछ विद्यार्थी जो निश्चित द्रव्य लेकर आते और अध्ययन कर गुरु दक्षिणा देकर चले जाते, किन्तु यदि कोई दक्षिणा न दे पाता तो गुरुकुल की सेवा करके ऋण चुका देता था। विद्याध्ययन में छोटे, बड़े, धनिक, निर्धन का भेद–भाव नहीं था। चाणक्य तक्षशिला में शिक्षा पूर्ण कर गुरुदक्षिणा चुकाने के उद्देश्य से अर्थशास्त्र की शिक्षा देता था। सिंहरण और चन्द्रगुप्त दोनों ही तक्षशिला के स्नातक हैं। प्रसाद के नाटकों में अर्थशास्त्र, अस्त्रशास्त्र, युद्ध–नीति, राजनीति, दण्डनीति तथा धर्मशास्त्र आदि विषयों का उल्लेख हुआ है। योग्य विद्यार्थियों को गुरुकुल में ही अध्यापन कार्य भी मिल जाता था। स्त्रियाँ भी शिक्षित होती थीं। वे विभिन्न कलाओं, गीत, नृत्य, वाद्य एवं अभिनय में पारंगत होती थी, यथा–कार्नेलिया दाण्डायन के यहाँ भारतीय दर्शन पढ़ने जाती थी तथा साथ ही भारतीय संगीत भी सीखती थी। देवसेना को गायन में अत्यधिक रुचि होने के साथ–साथ वीणा के स्वरों में स्वर मिलाकर गीत गाने का भी अच्छा ज्ञान था। पद्मावती भी वीणा वादन में पारंगत थी। सुवासिनी अभिनयकला में दक्ष थी। गणिकाएँ तो कलाओं में पूर्ण परंगत थीं। इसके लिए उन्हें अवश्य ही शिक्षा दी जाती रही होगी। पुरुष भी इन कलाओं पर अधिकार रखते थे। उदयन का वीणा वादन तथा राक्षस का अभिनय पूर्ण गान एक उदाहरण है। अतीत के उन युगों में महान साहित्यकार, विद्वान एवं कवियों का भी समाज पर व्यापक प्रभाव था, जिसमें प्रमुख रूप से अर्थशास्त्र तथा राजनीति शास्त्र का प्रणेता–चाणक्य तथा वार्तिककार–वररुचि और व्याकरण पाणिनी जैसे परम् विद्वान थे। वररुचि कार्नेलिया को रामायण पढ़ाता था। राक्षस भी विद्वान था, कार्नेलिया उससे उसना और कर्णिक की राजनीति का अध्ययन करती थी। मातृगुप्त कवि था और अपने स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत में तल्लीन रहता था। वह सुकवि होने के साथ–साथ विद्वान भी था।

प्रसाद के नाटकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज में सुरा–पान करने–कराने की प्रथा भी प्रचलित थी। उत्सव, दरबार, नृत्य और किसी विशेष आयोजन में यदि स्त्री–पुरुष दोनों रहते थे तो वहां पुरुष के सुरा–पात्र स्त्रियां भरती थी। अजातशत्रु में राजा उदयन के चषक रानी मागन्धी स्वयं भरती थी। समुद्रगुप्त भी तीव्र मादक (सुरा) पिला देने का निवेदन श्यामा से करता है। चन्द्रगुप्त का राक्षस नन्द के संकेत और बसन्तोत्सव की रानी की आज्ञा पर गाने को तैयार होता है, किन्तु उसके पूर्व वह उसका मूल्य एक पात्र कादम्ब मांगता है। सुवासिनी ही उसके पात्र भरती है।[10] ध्रुवस्वामिनी के शकराज के सुरापान के लिए उसकी प्रेमिका कोमा स्वर्णपात्र में मदिरा प्रस्तुत करती है। अनन्त देवी के कहने पर पुरुगुप्त को सुरा–पान विजया कराती है। तत्कालीन समाज में आमोद–उत्सव के समय स्त्री–पुरुष स्वतंत्र और समवेत रूप से नाचते, गातें हुए एक साथ सुरा–पान करते थे। प्रसाद जी के नाटकों में मर्यादा, आदर्श और सामाजिक गरिमा के लिए सम्भवतः ब्राह्मणों को सुरा–पान करते नहीं दिखाया गया है।

प्रसाद जी के नाटकों में कुछ उल्लेख तत्कालीन समाज में खाद्य वस्तुओं और खाद्यानों पर किया गया है। विशेष उत्सव और वैवाहिक समारोहों में मिष्टान्न लड्डू विशेष प्रिय और प्रचलित था। तत्कालीन समाज में शाकाहारी और मांसाहारी दोनों प्रकार की भोज्य सामग्री का प्रमाण मिलता है। ऋषि, तपस्वी, दार्शनिक और ब्राह्मण संस्कृति के निर्देशानुसार सात्विक गुणों की रक्षा और वृद्धि हेतु शुद्ध फलाहार करते थे। उत्तेजक भोजन, मांस, मदिरा उनके लिए वर्जित था। दाण्डायन के कथन से इसका प्रमाण मिलता है। प्रसाद जी नाटक में यह स्पष्ट करते हैं कि आर्य संस्कृति में भिक्षा ग्रहण करने का अधिकार मात्र ब्राह्मण और सन्यासियों को था। तत्कालीन समाज में नमक और सत्तू भी शुद्ध शाकाहार के रूप में ग्रहण किये जाते थे जो प्रसाद जी के नाटक चन्द्रगुप्त में वर्णित किए गये है। प्रसाद के नाटक चन्द्रगुप्त में वर्णित सत्तू का उल्लेख ऋगवेद में भी मिलता है। स्कन्दगुप्त में रोटियों और शूल पर के मांस का उल्लेख मिलता है। अमरकोष में भी शूलाकृत, शूल्य और भरिया नाम से पकाये गये मांस के तीन प्रकार बताये गये हैं। शूल पर के मांस का ही स्वरूप आज का कवाब है, जिसे कांटें में गूंथकर सेंका जाता है। इस समय मांसाहार वस्तुतः राजा और क्षत्रियों में विशेषरूप से प्रचलित था। मांस भक्षण आर्य संस्कृति समर्थित है। गौ आर्य संस्कृति में ब्राह्मण की तरह अहन्या मानी जाती थी और आर्य गोमांस–भक्षण नहीं करते थे। प्रसाद जी ने नाटकों में इस सम्मान और तथ्य की रक्षा की है, क्योंकि कहीं भी इसके विपरीत आचरण के उल्लेख नहीं मिलते। तत्कालीन समाज में ताम्बूल यानि पान आर्य संस्कृति की अत्यन्त पवित्र उपादेय और महत्वपूर्ण वस्तु के रूप में ग्रहण किया जाता था। ताम्बूल अतिथि–सत्कार, प्रेम एवं

कृपा का प्रतीक माना जाता था। राजाओं के आखेट का भी प्रचलन था। जनमेजय से लेकर ग्रहवर्मा तक इसका उल्लेख मिलता है। तत्कालीन समाज में पशुपालन का भी बड़ा शौक था।

प्रसाद के नाटकों से उस समय के समाज के बारे में भी ज्ञात होता था, गुप्त काल में सोने और चाँदी के सिक्कों का प्रचलन था, एक राज्य में, एक राजा और उसके सहायक मंत्री ही रहते थे। राज्य में जितने भी कार्य या आयोजन होते तो बिना राजा की आज्ञा के नहीं, लोगों में आपसी वैमनस्यता नहीं थी। लेकिन छुआछूत का भेद–भाव अवश्य था। मन्दिरों और बौद्ध–बिहारों में पूजा–पाठ का महत्वपूर्ण था। उस समय जो सम्मान माता–पिता, भाई–बहन का था वही सम्मान राजा के प्रति भी था तथा राजा भी प्रजा को पुत्रवत् मानता था। उस समय आजीविका के लिए कृषि और पशुपालन ही महत्वपूर्ण था, लोग गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरी, कुत्ता, बिल्ली, पालने के शौकीन थे।

प्रसाद जी के नाटकों में सामाजिक तथ्यों को वर्णित किया गया है। आर्य संस्कृति से सम्बन्धित जीवन यापन के विभिन्न पहलुओं का स्पष्ट वर्णन किया गया है। मौर्य संस्कृति, आर्य संस्कृति, हूण और भारतीय संस्कृति का समिश्रण प्रसाद जी ने अपने नाटकों में वर्णित किया है। जीवन यापन के लिए उस समय लोग कृषि, पशुपालन और विभिन्न व्यवसाय को अपनाते थे। जीवन की सम्पूर्ण अवधि को विभिन्न संस्कृति और समाज ने चार आश्रमों में विभाजित किया है। प्रसाद जी के नाटकों में तात्कलीन समाज व्यवस्था के वर्णन क्रम में इसके उल्लेख और संकेत प्राप्त होते हैं।

प्रसाद जी के लगभग सभी नाटक सामाजिक दृष्टि से साहित्य में अपना विशेष स्थान रखते हैं। सज्जन से लेकर ध्रुवस्वामिनी तक के नाटक समाज के लिए एक विशेष सन्देश देते हुए दिखाई पड़ते हैं। सज्जन में सज्जनता तो प्रायश्चित में पश्चाताप करते हुए प्रसाद जी ये प्रकट करना चाहते हैं, सत् और सत्कर्म, न्याय तथा अन्याय तथा पाप और पुण्य की अनुभूति का फल क्या होता है? इसी प्रकार कल्याणी परिणय में आपसी रिस्तों को बनाये रखने की शिक्षा देते हुए चाणक्य ने सिल्युकस की कन्या कल्याणी का विवाह चन्द्रगुप्त से करवाते हैं। करुणालय में, धर्म में विश्वास, दृढ़ प्रतिज्ञा, सत्य वचन तथा पितृ भक्ति का आदर्श समाज के लिए एक प्रकाश है तो राज्यश्री में दान, धर्म तथा त्याग की सुन्दर अभिव्यक्ति समाज ही नहीं बल्कि राष्ट्र आने वाली पीढ़ियों को भी शिक्षा देती है। विशाख समाज को न्याय, समता, प्रजापालन, कंचन–कामिनी मोह, राजपद–प्रतिष्ठा के उदाहरण को देते नरदेव जैसे प्रतापी राजा को सन्यास धारण कराना विश्व की सम्पूर्ण जनता में 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' की प्रतिष्ठा स्थापित करती है –

निर्बल भी हो, सत्य पक्ष मत छोड़ना,
शुचिता से इस 'कुहक–जाल को तोड़ना'।।

अजातशत्रु में संस्कार और त्याग की भावना के साथ पश्चाताप का प्रायश्चित भी कराया गया, मल्लिका जैसी पति परायण स्त्री पति के मृत्यु का समाचार सुनने पर भी विचलित न होना यह भारत के स्त्रियों के सतीत्व की पहचान दिलाता है, तो दूसरी ओर मांगन्धी (श्यामा) जैसी पतिता को भी शरणागत होते दिखाते हैं।

जनमेजय के नागयज्ञ में छात्र धर्म, त्याग, क्षमाशीलता, अपमान, दण्ड, अहं, क्रोध तथा ईर्ष्या आदि स्थितियों को नाटक में प्रस्तुत कर समाज को सत्य से अवगत कराते हैं, तो कामना में लोभ और अविश्वास की झलक दिखाते हैं। स्कन्दगुप्त नाटक में तो प्रसाद जी ने आधिकारिक सुख की स्थापना ही पहले कर देते हैं। इसमें देशभक्ति, राष्ट्रभक्ति, विश्वबन्धुत्व की भावना, त्याग, दया, मानवता, शिष्टता तथा कर्तव्य परायणता का संकलन कर समाज पर एक छाप छोड़ते हैं। देवसेना से विवाह नहीं होने पर स्कन्दगुप्त आजीवन अविवाहित रहने का दृढ़ संकल्प लेता है जो समाज में भीष्म प्रतिज्ञा की याद दिलाता है। एक घूँट में जीवन को किस प्रकार व्यतीत करे, इसका सही उपयोग, आदर्शवाद की स्थापना तथा निम्न वर्ग से लेकर उच्च वर्ग तक का जीवन वृत्त प्रस्तुत करते हैं। चन्द्रगुप्त में देश भक्ति, राष्ट्रभक्ति, शौर्य, तेज, पराक्रम, प्रेम, करुणा तथा दया, त्याग, अहिंसा को प्रस्तुत किया गया है। नाटक में लक्ष्य प्राप्ति ओर लगा हुआ, चाणक्य, चन्द्रगुप्त को कहता है – 'ये छोकरियों से बात करने का समय नहीं है मौर्य!' अतः कहने का तात्पर्य पहले अपने लक्ष्य को सिद्ध

करो। ध्रुवस्वामिनी में प्रसाद जी ने धर्म, विवाह, तलाक, वीरता, कायरता तथा करुणा, नारीशक्ति, दया और प्रेम को मुख्य रूप से नाटक में प्रस्तुत किया है। ध्रुवस्वामिनी को शकराज अपनी अंकशायिनी बनाने को विह्वल है, वह अपनी प्रणयिनी कोमा के साथ विश्वासघात तो करता ही है, आचार्य मिहिरदेव की आज्ञा की भी अवहेलना करता है। परिणामतः उसकी हत्या कर दी जाती है और अपने देश की नारी को उसका खोया हुआ सम्मान वापस मिलता है।

प्रसाद के नाटकों में स्त्रियों की गरिमा, महत्ता और स्वतंत्रता प्रदान की गई है। इतिहास और समाज के विभिन्न तथ्यों को प्रसाद जी ने अपने नाटकों में वास्तविक स्वरूप में प्रस्तुत किया। तात्कालीन सामाजिक व्यवस्था ने समाज में किन–किन समस्याओं को उद्घाटित किया और किस प्रकार उसका समाधान किया गया है। बाह्य एवं आन्तरिक संघर्षों की रूप–रेखा और उसके द्वारा बनते–बिगड़ते राज्यों की प्रमाणिकता प्रसाद जी के नाटकों में व्यक्त की गयी है।

प्रसाद जी के नाटकों में समाज को जितने भी भावों की आवश्यकता थी उसे प्रसाद जी ने कुशलतापूर्वक व्यक्त किया है। सामाजिक दृष्टि से प्रसाद के सभी नाटक समाज के सभी पहलुओं को छूते हुए आवश्यक रूप से निराकरण भी किए हैं। हमारा देश भारत ऋषि–मुनि, देवता एवं देवियों का देश रहा है। इसी भारत भूमि पर भगवान के सभी अवतार हुए हैं और होंगे। भारत जैसे देश में भारत को भारतमाता, धरती को धरती माता, नदियों को माता, वृक्षों का देवतुल्य आदर, पशुओं में गाय को माता ये सब हमारे संस्कृति की देन है और यही हमारी पहचान है। इन सभी महानताओं के होते हुए भी प्रसाद जैसे कोमल हृदय पर इसका प्रभाव कैसे न पड़ता। इसीलिए भारतीय संस्कृति की परम्परा पुर्नस्थापित करते हुए अपने नाटकों की रचना किया। भारतीय संस्कृति में पराई स्त्री मातृवत होती है। अन्य देशों में इस प्रकार की कल्पना ही नहीं की जा सकती। भारतीय संस्कृति में नारी तो अबला है ही, शकराज जैसे व्यक्ति को भेंट स्वरूप ध्रुवस्वामिनी को चन्द्रगुप्त कैसे सौंपता, वह जानता है अपना प्राण गवां कर भी अबला की रक्षा करना धर्म है। अतः वह शकराज की हत्या कर, ध्रुवस्वामिनी की रक्षा करता है। प्रसाद जी के सभी नाटक सामाजिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है तथा समाज को एक नई दिशा, दशा प्रदान करते हैं। सामाजिक दृष्टि से प्रसाद जी के सभी नाटक रंगमंचीय हैं। इसीलिए उनके नाटकों में विश्वबन्धुत्व की भावना परिलक्षित होती है –

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माँ कश्चित् दुःख भाग्भवेत्।।

प्रसाद जी के नाटक में नाट्य तत्वों की प्रतियुति करने वाले सभी तत्व विवेचित किये गये हैं, जो उन्हें सम्पूर्ण नाटककार की संज्ञा से विभूषित करने के लिए यथोचित है।

निष्कर्षः

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्रसाद जी के नाटक केवल साहित्यिक कृतियाँ मात्र नहीं हैं, बल्कि वे भारतीय समाज, संस्कृति और नैतिक मूल्यों के सशक्त दर्पण भी हैं। उन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से समाज की आवश्यक भावनाओं, मान्यताओं तथा आदर्शों को अत्यंत कुशलता से अभिव्यक्त किया है। उनके नाटकों में सामाजिक जीवन के विविध पक्षों–धर्म, संस्कृति, नारी सम्मान, कर्तव्यबोध और नैतिकता का सम्यक् चित्रण मिलता है, जो समाज को मार्गदर्शन प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त, प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति की महान परंपराओं को पुनर्स्थापित करते हुए नारी के सम्मान, त्याग और संरक्षण को विशेष महत्व दिया है। उनके नाटकों में प्रस्तुत आदर्श पात्र समाज के लिए प्रेरणास्रोत बनते हैं और यह संदेश देते हैं कि धर्म और कर्तव्य की रक्षा सर्वोपरि है। इस प्रकार सामाजिक दृष्टि से प्रसाद जी के नाटक न केवल अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, बल्कि वे समाज को एक नई दिशा और सकारात्मक दृष्टिकोण प्रदान करने में भी पूर्णतः सफल सिद्ध होते हैं।

संदर्भ –

1 प्रसाद, जयशंकर – विशाख (प्राक्कथन)
2 प्रसाद, जयशंकर –विशाख, पृष्ठ 36
3 प्रसाद, जयशंकर –अजातशत्रु, पृष्ठ 129
4 प्रसाद, जयशंकर –चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 88
5 प्रसाद, जयशंकर –ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ 52
6 प्रसाद, जयशंकर –चन्द्रगुप्त की भूमिका, पृष्ठ 47
7 अर्थशास्त्र परस्परम् द्वेषान्मोक्षः, पृष्ठ 3/21–22.
8 प्रसाद, जयशंकर –ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ 3/53
9 प्रसाद, जयशंकर –राज्यश्री, पृष्ठ 3/65
10प्रसाद, जयशंकर –चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 64